सुगणाबाई जैन ग्रन्थ-माला—५

महावीर का जीवन-दर्शन

★

लेखक

रिषभदास रांका

सम्पादक

जमनालाल जैन

सप्रेम भेंट
श्री चिरंजीलालजी बड़जातेकी ओरसे
चि० राजमती अजमेरा की स्मृति में
सप्रेम भेंट.

★

भारत जैन महा मण्डल

१९५१

प्रकाशक:

जमनालाल जैन, मंत्री

भारत जैन महामण्डल, वर्धा

सुगणाबाई ग्रंथमाला—९

प्रथम संस्करण २०००

मूल्य छह आने

मुद्रक:

जमनालाल जैन, व्यवस्थापक

श्रीकृष्ण प्रिं. वर्क्स, वर्धा

प्रकाशक की ओर से

यह पुस्तक सुगणाबाई ग्रन्थ-माला का पाँचवाँ पुष्प है। इस ग्रन्थमाला की स्थापना श्री० चिरजीलालजी वड़जाते ने अपनी माताजी की स्मृति में की है। इसके पहले चार पुस्तके इस ग्रन्थ-माला में से निकल चुकी है।

इस पुस्तक की सामग्री जैन जगत में निकल चुकी है। आत्मविकास तथा साधना की दृष्टि से यह सामग्री वहुत उपयोगी है, ऐसा कई मित्रो का अभिप्राय रहा। खासकर श्री चिरंजीलालजी का आग्रह रहा कि यह सामग्री पुस्तक रूप में निकल जानी चाहिए। उन्होने अपनी पुत्री स्व० राजमती की स्मृति में इस पुस्तक की एक हजार प्रतियाँ अपनी ओर से वितरित करने की इच्छा प्रकट की। इस तरह यह पुस्तक पाठको तक पहुँच रही है। श्री चिरंजीलालजी की प्रेरणा और सहायता के लिए हम आभारी है।

इस पुस्तक की सामग्री मूलतः आचारांग सूत्र से ली गई है। प्राचीन शब्दों और भावो को आधुनिक शैली में और सरल भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयत्न लेखक ने किया है। पुस्तक के नाम से कोई भ्रम में न रहे क्यो कि न यह महावीर का जीवन चित्र है न घटनाओं का दार्शनिक दृष्टिकोण। महावीर की विचारधारा को ही आज की भाषा में समझ और अनुभव के अनुसार रखने का यह लेखक का नम्र प्रयास है।

स्व० वहन राजमती का जीवन चित्र आंकने में हमे उसके पति श्री अनूपलालजी के अप्रकाशित लेख से काफी मदद मिली है। इसके लिए हम उनके आभारी है।

आशा है पाठको को यह पुस्तक भी पसन्द आएगी।

वर्धा,
२८-११-५१

स्व० राजमती

राजमती वर्धा के श्री चिरंजीलालजी बड़जाते की लड़की थी। उसका जन्म सन् १९२८ में भाद्रपद सुदी ३ को हुआ और सन् १९५१ की ३० सितम्बर को वह इस संसार से सदा के लिए चली गई।

चिरंजीलालजी बड़जाते जैन समाज के सुप्रसिद्ध और पुराने कार्यकर्ता, सुधारक, सेवा-परायण तथा व्यवहार-कुशल व्यक्ति हैं। चिरंजीलालजी के यहां जन्म लेकर राजमतीने क्या पाया और कैसे पाया इसका इतिहास उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना यह है कि जो कुछ उसे मिल सका उसे उसने परिस्थितियों के अनुसार जीवन में कैसे उतारा। जीवन की विशेषता इस में नहीं है कि सीधे रास्ते पर चलते चलते समाप्त हो जाएं, या कि जीना जी चुकें। दयनीय अवस्था, अपमान पूर्ण स्थिति, संकट और कष्ट पूर्ण जीवन तथा आर्थिक कठिनाई के बीच ही आदमी की कसौटी होती है और ऐसी विपरीत परिस्थितियों में भी जो आगे बढ़ जाता है, दुनिया उसकी ओर आदर और ईर्षा की नजरों से देखने लगती है।

राजमती का बचपन अत्यन्त लाड़-प्यार में पला। चिरंजीलालजी का हृदय इतना कोमल, स्नेहल और परदुखकातर है कि वे किसी को दुख देख ही नहीं सकते। सन्तान के प्रति अत्यन्त स्नेह उनका स्वभाव है। ऊपर ऊपर से देखने में किसी को ऐसा लग सकता है कि वे बहुत निर्मम हैं, परंतु जो उनको निकट से जानते हैं वे अच्छी तरह परिचित हैं कि वे उतने ही द्रवणशील हैं और यही तो कारण है कि किसी के जरासी तकलीफ की बात सुनते ही वे बेचैन हो उठते हैं, रात-रातभर विचार करते

स्व० सौ० राजमती अजमेरा

जन्म : १९२८ स्वर्ग० : ३० सितंबर १९५१

बैठते हैं और चाहे जितना नुकसान उठाकर भी अपने कर्त्तव्य को पूरा करते हैं और उस हालत में भी करते हैं जब उन्हें बदले में किसी प्रकार का आराम और आदर तक नहीं मिलता। ऐसे पिता की संतान होकर राजमती के १६ वर्ष किस सुख की गोद में पले होंगे, कल्पना की जा सकती है। प्यार आदमी को उठाता भी है और गिराता भी। जिस प्यार में विवेक और मर्यादा का अभाव होता है वह गिराता ही है और इतना गिराता है कि विचार और चेतना ही लुप्त हो जाती है। राजमती को पिता के प्यार मे इतना अवश्य मिला कि वह श्वसुर-कुल में अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को विलीन कर सकी, और इसमें उसकी तेजस्विता भले ही न हो, वेदना पूर्ण सहिष्णुता अवश्य थी।

उसके बचपन की ऐसी कोई घटना हमें याद नहीं जिसे हम उसकी विशेषता के रूप में पेश कर सके। हां, वह भोली थी और इतनी भोली थी कि शायद और लड़कियों से उसका मेल नहीं बैठता था। प्राथमिक शिक्षण पूरा होने पर उसे दो वर्ष तक महिलाश्रम में रखा गया। महिला-श्रम गांधी विचार-धारा की संस्था है जहां पर हर छात्रा को अपना पाखाना तक साफ करना पड़ता है और वह इसलिए कि उस कार्य के प्रति हीन दृष्टि न रहे। चिरंजीलालजी यद्यपि सुधारक हैं, दो बार जेल यात्रा कर चुके हैं और स्व. जमनालालजी के सम्पर्क से उनमें किसी वर्ग के प्रति घृणा या तिरस्कार नहीं रहा, परंतु जहा तक परिवार का प्रश्न है वे अपनी चीज़ को किसी पर जबरदस्ती थोप नहीं सके हैं। राजमती जिस वातावरण में रही वह पाखाना साफ करने के बहुत कुछ पक्ष में नहीं था, बल्कि कहा जा सकता है कि वहां जातीयता ही अधिक थी। फिर भी राजमती ने महिलाश्रम में वह काम किया और प्रसन्नतापूर्वक किया। यही कारण था कि पिता की प्रेरणा पाकर वह सन् १९४२ में ६ मास के लिए जेल भी हो आई।

जेल में थे। उनसे मिलने के लिए वह लम्बा रास्ता काट कर जेल पहुंच जाती थी। एकबार उसने कहा 'महिलाएं भी पुरुषों से कम नहीं होतीं। जब सन् '४२ में अंग्रेजी सल्तनत के सिपाही ही मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सके तब आज तो मुझे डर ही किस बात का है!'

वह लगभग तीन सालतक क्षय से बीमार रही। चिरंजीलालजी ने हजारों रुपया खर्च कर के विविध उपचार करवाये, उसे मिरज, पेंड्रारोड आदि के सेनीटोरियम में भेजा, आपरेशन करवाए, परंतु रोग से वह मुक्त न हो सकी और अंत में उसकी मृत्यु हो गई। बीमारी में उस के पिताजी ने उसके पढ़ने के लिए सुविधा भी कर रखी थी। घर पर आनेवाले कई समाचार-पत्र, धर्म-ग्रंथ आदि वह पढ़ती रहती थी। इस से उसका धार्मिक ज्ञान भी बढ़ता गया था और सहन शक्ति में मदद मिलती थी। यही कारण था कि असह्य वेदनापूर्ण स्थिति में भी वह हँसती रहती थी और एक प्रकार से उसने मृत्यु के भय को जीत लिया था।

विवाह के बाद वह सात वर्ष तक जीवित रही। पर गृहस्थी का सुख जिसे कहते हैं वह उसे बहुत कम मिला। उसके पति रा. स्व. से. संघ की निष्ठा के कारण संघ के कार्य में अधिकतर व्यस्त रहे और घर पर जो वातावरण था वह अनुकूल नहीं था। उसे दो बच्चियाँ हुईं, पर उनको ठीक से प्यार भी वह न कर सकी।

बच्चों की परवरिश के बारे में वह बहुत सावधान रहती थी। वह अपनी बच्ची को कोरा दूध कभी नहीं पिलाती थी। वह जानती थी कि छोटे बच्चों को जल्दी अन्न देना शुरू करने से उन्हें लीव्हर की शिकायत हो जाती है। घरकी महिलाएं इसके कारण को समझ नहीं पाती थीं। सास से कहा जाता कि ज्यादा अन्न नहीं खिलाना चाहिए तो वे कहतीं कि बच्चों को तो खिलाना ही चाहिए, बच्चों का पेट तो फूला रहता ही है। और इस तरह जब उसने देखा कि चाहे जैसी वस्तुएं खिलाते रहने से बच्ची कमजोर होगई है तो उसको काफी वेदना हुई। वह जानती थी कि

पुराने विचार के लोगों को आरोग्य के नियमों की जानकारी न होने से ही यह सब होता है।

यों उसके जीवन की कोई विशेष घटनाएं न भी मिलें और एक प्रकार से उसके जीवन को सामान्य जीवन ही कहा जा सकता है, तो भी वह साफ़ दिल, नेक विचार और सेवाभावी लड़की थी। यह बात दूसरी है कि उसे परिवारकी परिस्थिति में घुलमिल जाना पड़ा और प्रकट रूपमें उसने कभी अपनी भिन्नता व्यक्त नहीं की, फिर भी उसका हृदय इतना भावना प्रधान और कच्चा अवश्य था कि वह बातको पी तो जाती थी पर पचाना उसके लिए सरल नहीं था। पचाने के लिए जिस ताकत की जरूरत होती है वह उसमें नहीं थी और यही कारण है कि वह बीमार हो गई। जो आदमी विरोध और वैषम्य को पचा जाता है या बाहर प्रकट रूपमें निकाल फेंकता है उसके मनमें किसी प्रकार का भाव नहीं रहता लेकिन जो प्रकट नहीं करते और वेदना सहते हैं ऐसे लोग बीमार ही हो जाते हैं। बीमार होने पर भी उसने बहुत दिन तक बीमारी को बताया नहीं।

वह गृहस्थी की छोटी-मोटी बातों को खूब जानती थी। वह हमेशा अपने पति से कहा करती थी कि किसीका एहसान सिरपर नहीं रखना चाहिए। एहसान नमक का भी ठीक नहीं। और उसकी यह बात व्यावहारिक दृष्टि से बड़ी मार्के की थी। यों आदमी एहसान से कब मुक्त रहा है— हर आदमी एहसान की गोदी में पलता है, बढ़ता है; पर वह एहसान किस काम का जो आत्मा को दीन और पतित बनाए, स्वाभिमान को गिराये। उसका संकेत इसी ओर था। इसी तरह कर्ज से भी वह घबराती थी। वह कहती थी कि जिसका देना है उसे बुलाकर दे देना चाहिए। इससे परेशानी कम होती है और शान भी रहती है। और हम कह सकते हैं कि यह चीज़ उसके भीतर पितासे आई थी। चिरंजीलालजी का जिन्हें अनुभव है वे जानते हैं कि कर्ज के नामसे वे

कितने घबराते हैं और कहीं उन्हें मालूम हो जाय कि अमुक आदमी उनके बारेमें अमुक बात कर रहा था तो वे प्यारी से प्यारी वस्तु को बेचकर, चाहे जितनी हानि उठाकर भी उसका रुपया पहुंचा देते हैं। ऐसे बाप की बेटी कर्ज करके शौक कैसे कर सकती थी ?

अन्त अन्त में उसका झुकाव अध्यात्म की ओर हो गया था। वह हमेशा कहा करती थी कि अब मैं नई साड़ी पहनूंगी। नया शरीर धारण करूंगी। मरते समय भी उसने अपनी माँ से कहा कि "माँ चिंता छोड़ो, मैं अकेली आई और अकेली जा रही हूं। हम सबका इतना ही साथ था।" यह उसकी बीमारी और धर्म ग्रंथों के पढ़ने का स्वाभाविक परिणाम था।

वह चली गई केवल २३ वर्ष की उम्र में। लेकिन अध्यात्मने उसे आत्मिक आनंद दिया और इसी के आधार पर उस में हिम्मत रही और अन्त समय वह अनासक्त भाव रख सकी।

उसकी स्मृति स्वरूप दो बच्चियां हैं। जिनमें से एक उसकी भाभी के पास रहती है और एक उसकी माँ के पास। बड़ी होकर वे अपनी माँ के गुण को विस्मरण नहीं करेंगी, ऐसा सोचना व्यर्थ नहीं होगा।

वर्धा,
२८-११-५१

जमनालाल बजाज [signature]

महावीर का जीवन-दर्शन

स्वरूप से अनभिज्ञ लोग

संसार में बहुत लोग ऐसे होते हैं जिन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। वे कहाँ से आए और मृत्यु के बाद कहाँ जावेंगे इसकी भी उन्हें कोई कल्पना नहीं होती। उनमें जो आत्मा है उसका पुनर्जन्म होगा या नहीं यह भी वे नहीं जानते। उन्हें यह भी मालूम नहीं कि वे इस तरह जन्म-मरण के फेरे क्यों करते रहते हैं और उन्हें संसार में सुख-दुःख क्यों भोगने पड़ते हैं।

जिज्ञासु आत्मार्थी

लेकिन कुछ आत्मार्थी पुरुष ऐसे भी होते हैं जो अपनी सहज स्मृति या अनुभव से अथवा अन्य अनुभवियों से इस बात की जानकारी प्राप्त करते हैं कि उनका स्वरूप क्या है। और इस शरीर में जो आत्मा है, वह कैसे सत् यानी नाश न होने वाला, आनंद रूप और ज्ञानयुक्त है और कर्म-बन्धनों के कारण वह भिन्न भिन्न योनियों में क्यों जन्म-मरण करता है। अपनी वृत्तियों से उसे यह ज्ञात होता है कि वह किस प्रकार के शरीर को त्याग कर आया है इस शरीर को त्यागने पर किस अवस्था को प्राप्त होगा। ये जन्म-मरण के चक्कर उसे अपने द्वारा किए हुए कर्म-बन्धनों के कारण करने पड़ते हैं। और शुद्ध चैतन्य को आनंद तथा सुखरूप होने

पर भी जो दुःख भुगतने पड़ते हैं वे भी कर्म-बन्धनों के कारण ही।
उसे अपनी आत्म-शक्ति की पहचान भी होती है।

कर्म-बन्धन का कारण

ऐसे आत्मार्थी-पुरुष कर्म-बन्धन क कारण को भी जानते हैं। यह संसार 'मैं ऐसा करूंगा, ऐसा करवाऊंगा या ऐसे करनेवालों का अनुमोदन करूंगा' इस तरह की प्रवृत्तियों से चलता है। लेकिन साधक यह जानता है कि शरीर की आसक्ति के कारण मोह पैदा होता है और सुखी बनने के लिए वह दूसरों को दुःखी बनाता है। यह आसक्ति तथा प्रमाद ही उससे हिंसा करवाता है और वह हिंसा कर्म-बन्धन का कारण बनती है।

विवेकी की आत्मौपम्य वृत्ति

देह के प्रति आसक्ति या राग-द्वेषादि कषायों के कारण विवेक नष्ट हो जाता है। मान, सन्मान, बड़प्पन तथा आदर पाने, दुःख मिटाने या जन्म-मरण से मुक्ति पाने के लिए प्राणी अज्ञानवश दूसरो को कष्ट पहुंचाता है। उसकी यह प्रवृत्ति उसके लिए अहित कर है और उसे सच्चे सुख का ज्ञान कराने में बाधक है। इसलिए विवेकी इन सब बातों से बचकर दूसरों के प्रति आत्मौपम्य वृत्ति रखता है।

उस इसकी भी जानकारी होती है कि जो अपने प्रति बेदरकार रहता है वह दूसरों के प्रति भी बेदरकार रहता है और जो दूसरों के प्रति बेदरकार रहता है वह अपने प्रति भी बेदरकार रहता है। यानी सबके प्रति आत्मवृत्ति रखना ही सच्चे सुख का मार्ग है।

सर्वत्र भिन्न भिन्न जीव हैं। उस जीव-समूह के स्वरूप को ठीक से समझकर भय रहित करने से ही वह भय रहित हो सकता है। इसलिए विविध जीवों के स्वरूप को समझने में जो कुशल हैं वे ही हिंसा से बचने में कुशल हो सकते हैं। जिन्होंने वासनाओं को जीत लिया है, संयमी हैं, प्रयत्नशील तथा सदा जागृत रहनेवाले साधक हैं, उन्हें ही सम्यक्‌ज्ञान यानी ठीक जानकारी हो सकती है।

भय और अशान्ति से दुख की वृद्धि

जो शरीर की आसक्ति यानी स्वार्थ के कारण दूसरों को कष्ट पहुंचाता है, दूसरों के प्रति तिरस्कार रखता है या दूसरों से भयभीत रहता है, वह दूसरों को पीड़ा पहुंचाता है। अशांति और भय पैदा करने वाला व्यक्ति सबके दुःखों की वृद्धि करता है।

सब में आत्म-भाव

लेकिन आत्मार्थी पुरुष तो दूसरे के अनिष्ट या दुःख में अपना अनिष्ट या अहित देखते हैं। वे हिंसा का त्याग करने में समर्थ होते हैं। क्योंकि वे अपने दुःख का स्वयं अनुभव करते हैं, उन्हें दूसरों के दुख की भी कल्पना रहती है। वे दूसरो के दुःखों को भी समझ सकते हैं। वे दूसरे जीवो को अपनी तरह मानते हैं और दूसरों को कष्ट पहुंचाकर जीना नहीं चाहते।

प्रमाद यानी असावधानी—अज्ञान और आसक्ति—ही हिंसा के मूल में होती है। इसलिए साधक जागृत रहकर हिंसा से बचते है। क्योंकि वे जानते हैं कि आसक्ति या कामना ही उन्हें संसार में भटकाती है, दुःख देती है।

अहिंसा में दृढ़ विश्वासी

विविध कर्म-बन्धनों में बांधकर दुख देनेवाली हिंसा की प्रवृत्ति न करने वाला, अभय के स्वरूपको समझने वाला साधक सरल होता है। उस में दम्भ नहीं होता। उसका यह दृढ़ विश्वास होता है कि अहिंसा संसार मे सुख बढ़ाने वाली है इसलिए वह तदनुकूल आचरण करता है।

'स्व' की भ्रान्ति

'स्व' की भ्रान्ति या शरीर की आसक्ति ही संसार में आत्मा को उलझाती है। इस वृत्ति के कारण माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री, पत्नी-बहू, मित्र, और स्वजनों में विशेष ममता होती है। सुख-भोग के साधनों और अन्न वस्त्रादि में विशेष ममत्व रहता है। मोह के कारण आई हुई आसक्ति ही दुःख और क्लेश का कारण बनती है। इन सब विषयों की प्राप्ति की इच्छा ही मनुष्य को उनमें तल्लीन बनाती है। वह उनमें ऐसा घुल-मिल जाता है कि उसे समय-असमय, करणीय-अकरणीय आदि का भान तक नहीं रहता। वह अपनी मर्यादा को भूलकर शक्ति से अधिक बोझ उठा लेता है। कठोर परिश्रम करता रहता है। दूसरो को कष्ट पहुंचाने के अनेक दुष्ट कार्य उसके द्वारा होने लगते है। कई बार तो वह दुष्ट कार्यों की ऐसी कल्पनाएँ करता रहता है कि वैसे दुष्ट या बुरे काम किसी से हुए ही न हों।

कामना में दुख का डर

स्त्री और धन को ही सुख का कारण समझकर उनके प्राप्ति की कामना रखने वाले दुःखों से डरते रहते है। उनमे अज्ञान

रहता है और वे शारीरिक सुख-प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार की शक्तियों का संचय करते रहते है। वे शक्ति के संचय के कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार नहीं करते और दूसरों को कष्ट या दुःख पहुंचाने में उन्हें संकोच नहीं होता।

कामिनी-कांचन का मोह

कामिनी-कांचन के मोह मे फंसे हुए मूढ़ लोगो को अपने जीवन के प्रति बड़ी आसक्ति होती है। वे शारीरिक सुखोपभोग में ही मनुष्य-जीवन की सार्थकता मानते है और उसके पक्ष में दलीले देकर अपने तत्त्वज्ञान का प्रसार करते है। वे कहते है कि संसार मे न तप लाभदायी है और न इन्द्रिय-दमन ही। न कोई नियम है और न व्यवस्था। अपने शारीरिक सुख के लिए, काम-भोगों के लिए चाहे जैसी स्वच्छंदता से बरतने का ही वे उपदेश देते हैं। सामाजिक नीति-नियमों का या समाज के धारण-पोषण योग्य रीति-रिवाजों के पालन का भी वे विरोध करते हैं। भले ही उनकी दलीलें कामासक्त या सुखोपभोग की इच्छा रखनेवालों को आकर्षक जँचें लेकिन वस्तुतः विवेकी और ज्ञानी जानते है कि यह मार्ग नाश की ओर ले जानेवाला है। संयम का मार्ग ही संसार सुख को बढ़ानेवाला और कल्याणकारी है।

स्त्रियों को वे सब सुखो को देनेवाली मानते हैं और उनपर आसक्त होकर अपने कर्तव्य को भी भूल जाते है। इसी तरह धन में भी जब उनकी आसक्ति हो जाती है तो धन संग्रह करने में दूसरों को कष्ट पहुंचाते है, दुःख देते है। उनकी प्रवृत्तियों से उनके तथा दूसरो के दुःखों की वृद्धि हुआ करती है।

बुढ़ापे की स्थिति

लेकिन मनुष्य का जीवन अल्प और अस्थिर है। जब शरीर पर मृत्यु का आक्रमण होता है, जो अनिवार्य और न टलने-वाली बात है तब उसकी इन्द्रियाँ शक्ति-हीन और बेकाम बन जाती हैं। वह मूढ़ बन जाता है। उसे नहीं सूझता कि उसे क्या करना है। बुढ़ापा, बीमारी और मृत्यु आदि न टलनेवाली बातें हैं। जब कोई बूढ़ा शिथिलेन्द्रिय बन जाता है तब जिनको वह अपने स्वजन मानता था और जिनके संपर्क में उसने जीवन बिताया था उन्हें वह अप्रिय लगता है; बोझ रूप प्रतीत होता है और कई बार तो वे उसका तिरस्कार भी करते है। वृद्धावस्था मे किसी भी सुखोपभोग में आनंद नहीं रह जाता। यौवन और सामर्थ्य उसे छोड़ जाते हैं। उसने जिन्हें अपना माना था वे स्वजन चाहें तो भी उसकी मृत्यु से रक्षा नहीं कर सकते—बचा नहीं पाते।

कोई सहायक नहीं रहता

वृद्धावस्था के पहले भी कई बार असंयमित जीवन बिताने के कारण भयानक बीमारियां हो जाती हैं। कई बीमारियां तो ऐसी होती हैं कि उनके संसर्ग मे आनेवालों को भी वे लग जाती हैं या दूसरों को घृणा पैदा करनेवाली हों तो उसके स्वजन उसे छोड़कर चले जाते हैं। उसे दुख से कोई नहीं बचाता, सुख का कारण नहीं बन सकता। अपने सुख दुख अपने आपको ही भोगने पड़ते हैं। उसका धन भी उसकी सहायता नहीं कर सकता।

धन सुख का कारण नहीं होता

शरीर के सुख-भोगों में आसक्त लोग धन या परिग्रह को सुखोपभोग का साधन मानते हैं। उनकी तृष्णा केवल अपने तक ही सीमित नहीं रहती, वे इतना संग्रह करना चाहते हैं कि जिससे उसके पुत्र-पौत्रादि भी सुख भोगें। धन का संग्रह करने में अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं—परिश्रम करना पड़ता है और दूसरों को कष्ट पहुंचाने के काम भी उसके द्वारा बन पड़ते हैं। लेकिन चाहे जिस मार्ग से या कष्ट उठाकर एकत्र किया हुआ धन जब सुख भोगने का समय आता है तब या तो वह इस संसार से चल बसता है या ऐसा भी देखा जाता है कि जिनके लिए उसने धन संग्रह कर रखा था वे ही चले जाते हैं। धन सुख का ही कारण बनेगा यह निश्चित नहीं कहा जा सकता; क्योंकि धन के कारण ही कई बार तो उसके स्वजन असंयम के रास्ते पर जाकर अकल्याण करते हुए दिखाई पड़ते हैं।

फिर एकत्र संपत्ति का कुटुंबीजन बँटवारा करा लेते हैं चोर चोरी करके ले जाता है, राजसत्ता लूट लेती है या उसका नाश हो जाता है। आग, बाढ़ या भूकंप से वह नष्ट हो जाती है। तब सुख के लिए एकत्र की हुई संपत्ति चले जाने का दुःख ही उसे मिलता है। लेकिन मोह से मूढ़ होकर मनुष्य इन सब बातों को न जानकर दुःखित होते रहते है—दूसरों के दुःखों की वृद्धि करते रहते हैं। क्योंकि दूसरों के दुःखों को बढ़ाकर करोड़ो की संपत्ति एकत्र करनेवाले भी तो सुखी नहीं दीखते—वे भी तृष्णा

की अग्नि में जलते ही रहते है। उनकी बेचैनी कम नहीं होती और न उन्हें जीवन में संतोष ही मिलता है।

साधक का कर्त्तव्य

इस तरह बीमारी, बुढ़ापा, मृत्यु, इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग से कोई किसी को बचा नहीं सकता—उसकी रक्षा नहीं होती। अपने दुःख अपने आपको ही भुगतने पड़ते है। इसलिए जब तक बुढ़ापा नहीं आया, इन्द्रियाँ शिथिल नहीं हुई, बीमारी ने घर नहीं किया और मृत्यु नहीं आई है, तब तक सावधान होकर साधक को आत्मार्थ साध लेना चाहिए—कल्याण कर लेना चाहिए।

शुरूआत स्वयं से हो

संसार में सभी सुख चाहते है, उसके पीछे दौड़ रहे है। फिर भी लोग दुःखी ही दीख पड़ते है। कोई शारीरिक व्याधि से तो कोई मानसिक चिंताओं के कारण, इस तरह संसार में दुःखितों की संख्या ही अधिक है। इसका कारण यह है कि देह के प्रति आसक्ति रखकर दूसरों को दुःखी बनाकर लोग अपने लिए सुख प्राप्ति की आशा रखते है। दूसरों को दुखी बनाकर, कष्ट पहुंचाकर कभी कोई सुखी बन नहीं सकता; जैसे कोई भी दूसरी बहनो को भ्रष्ट करके अपनी बहनो या स्त्री को पवित्र रख नहीं सकता। यदि पवित्रता की चाह है तो स्वयं को पवित्र बनाना चाहिए। उसी तरह यदि तुम्हें सुख की चाह है तो तुम दूसरो को सुखी बनाओ। लेकिन शरीर की आसक्ति उसे मूढ़ बनाती है—असावधान या प्रमादी बनाती है। ऐसे अज्ञानी विषय सुखों के पीछे पड़कर दुःख भोगते है।

'मैने ऐसा किया और अब आगे ऐसा करूंगा' इस तरह कल्पना के घोड़े दौड़ानेवाला आरंभी मनुष्य कर्तव्यो के प्रति उदासीन रहता है। कल्पना के जाल मे अपनी सारी बुद्धि लगा देता है—बहुत सारी शक्ति खर्च कर देता है। कर्तव्य का विचार करने की और उन्हें करने की न तो उसके पास शक्ति बचती है और न वह कुछ कर ही पाता है। कामनाओं के चिंतन से उसका लोभ बढ़ता ही जाता है और वह अपना शत्रु अपने आप बन जाता है। उसे सुख की चाह है, लेकिन उसने रास्ता गलत पकड़ा है। वह अपनी इस भूल का समर्थन करता है, उसके पक्ष में युक्तियां देता है। उसने अपना एक व्यवस्थित तत्त्वज्ञान भी बना लिया है कि यदि स्वयं सुखी बनना हो तो दूसरे को दुखी बनाए बिना, शोपण किए बिना चल नहीं सकता। यद्यपि उसका यह कहना हानिकर है तो भी प्रायः सभी लोग उसी रास्ते से जाते है।—उसी मार्ग का अनुसरण करते हैं। मोह से मूढ़ बने हुए लोगों की बुद्धि भी कुछ उलटे रास्ते ही जाती है। उन्हे ठीक रास्ता नहीं सूझता। वे प्रमाद से अपना ही नाश नहीं करते पर दूसरो को भी नाश के रास्ते ले जाते हैं। खुद दुःख पाकर संसार में दुःखों की वृद्धि करते हैं।

कामना का परिणाम

कामनाओं की पूर्ति होना—उन्हें संतुष्ट करना असंभव है। मत्यु अनिवार्य है। जीवन को बढ़ाया नहीं जा सकता। कामभोगो में आसक्त व्यक्ति यह शोक ही करता रहता है कि मेरी

'यह' इच्छा तो पूरी हुई लेकिन 'वह' तो अभी बाकी है। एक के पूरी होने पर दूसरी पैदा होती है और दूसरी इच्छा की पूर्ति न होने पर उसे शोक होता है, चिंता से वह अपने आपको दुःखी बनाता है। शरीर और मन को अस्वस्थ बनाता है। उसे अपनी मर्यादाओं का भान नहीं रहता। वह मर्यादाओं को लांघकर कामनाओं के पीछे पड़ मोहासक्त बनकर दुःख से पीड़ित और परितप्त बनता है। उसके दुःख का शमन नहीं होता। दुःख के चक्र में वह घूमता ही रहता है और दुःखों को बढ़ाता रहता है।

मृत्यु सम्बन्धी अज्ञान

कामनाओं की पूर्ति हो जाने से या भोग भोगने से तृष्णा का शमन नहीं होता। स्वच्छंदता से भोगे हुए भोग महा भयरूप तथा दुःख के कारण है इसलिए उनके पीछे लगकर दूसरों को दुःखी न बनाओ। हर व्यक्ति इस बात को भूल जाता है कि वह भी मरने वाला है। यदि उसे इस बात की कल्पना सदा रहे तो वह कई अनर्थों से बच सकता है। क्योंकि अपने को अमर मानने से ही उसकी शारीरिक सुख भोगो मे श्रद्धा होती है। उन सुखों को ही वह सब कुछ मान कर दूसरे के सुख-दुख की पर्वाह नहीं करता। इसी कारण वह दुखी बनता है। इसलिए तृष्णा का त्याग करो। काम-भोगों के सुख के स्वरूप को न समझने के कारण ही वह रोता है, पछताता है।

क्षणभर भी प्रमाद न करो

सच्ची शांति और सुख का मूल 'धर्म' है। धर्म के बिना सच्ची शांति और सुख मिल नहीं सकता, लेकिन आसक्ति और राग

द्वेषादि कषायों में मूढ़ बना हुआ व्यक्ति इस बातको समझता ही नहीं। इसलिए संतों का कहना है कि क्षणभर भी विलंब न करो। आशाओं तथा स्वच्छंदता या उच्छृंखलता का त्याग करो। सच्ची शांति के स्वरूप का तथा मृत्यु की अनिवार्यता का विचार कर अविलंब सही रास्तेपर लग जाओ।

जो सच्चे सुख की चाह करते है वे क्षणिक और दुःख देने वाले भोग-जीवन की इच्छा नहीं करते। जन्म-मरण का विचार कर वे संयम में स्थिर रहते हैं।

सच्चे अकर्मी या अनासक्त

कामनाओं को निर्मूल कर सांसारिक संबंधों और प्रवृत्तियो में से निवृत्त होकर वे अकर्मी बनते है। उन्हें कर्मों का बंधन नहीं होता। उनकी हर प्रवृत्ति मे सावधानी होती है और सहज भाव से किसी प्रकार की आसक्ति रखे बिना उनसे शुभ प्रवृत्ति होता है। उन्होंने कामनाओं के स्वरूप को समझ लिया है, इसलिए उनमें किसी भी प्रकार की आकांक्षा नहीं रहती। इसी कारण वे अकर्मी है।

जो कामनाओं को जीत लेते हैं वे दर असल बंधन से मुक्त हैं। अकाम के द्वारा कामको दूर करते हुए वे काम-भोगो में नहीं फँसते। शुभ कर्मों के प्रति भी उनकी आसक्ति नहीं रहती।

सत्य-मार्ग का साधक

ऐसे सत्य-मार्ग के लिए जो सबको सुखी बनाता है वह प्रयत्न-शील साधक फिर तुच्छ भोग-जीवन के लिए बुरे काम—पाप

कर्म नहीं करता। अपनी विविध प्रवृत्तियो द्वारा किसी प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचाता—न खुद दूसरे की हिंसा करता है और न दूसरे से करवाता है। सभी प्राणियों को अपना जीवन और सुख प्रिय होता है। दुःख सभी को अप्रिय लगता है। सभी लोग जीवन की कामना रखते हैं और जीवन को प्रिय मानने वाले हैं, इसलिए किसी को भी अपने सुख के लिए दुःखी बनाना या उसका वध करना योग्य नहीं है। इसलिए भले ही अबतक असावधानी से कष्ट पहुंचाया भी हो पर भविष्य में तो उससे बचने का निश्चय करना चाहिए, यही विवेक है। इस तरह की सावधानी रखकर जो जीवन बिताता है उसे कर्मों का बन्ध नहीं होता। यही श्रेष्ठ मार्ग है और इस पर चलने पर सभी सुखी बनते है।

कामनाएँ अनन्त हैं

संसार के लोगो की कामनाओ का अन्त नहीं है। एक के बाद एक वे बढ़ती ही रहती है। उनकी पूर्ति का प्रयत्न चलनी में पानी भरने के समान व्यर्थ है। अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये यदि दूसरे प्राणियो का वध करना पड़े, उन्हें कष्ट दना पड़े या अधीन करना पड़े तो भी किया जाता है। इतना ही नहीं, सारे समाज में दुख बढ़ते हों तो भी संकोच नहीं किया जाता। हिच-किचाहट नहीं होती। कामनाओ के अधीन होकर मूढ़ बने हुए तथा राग-द्वेष में फँसे हुए लोगों की बुद्धि मंद हो जाती है। उनमें विवेक नहीं रहता। वे जीवन मे मान, सम्मान और आदर की आसक्ति में डूबे रहते हैं और वासनाओं को एकत्रित करते रहते

है। अन्त समय तक उनकी वासनाएँ शांत नहीं होतीं। इसी कारण उन्हें फिर से जन्म लेना पड़ता है क्योंकि वे विषय-भोगों में इतने आसक्त हो जाते हैं कि उन्हे कर्तव्याकर्तव्य का या धर्म-अधर्म का विवेक नहीं रहता। धीरे धीरे वे बुढापा और मृत्यु के अधीन हो जाते हैं। यानी बुढ़ापा या मृत्यु आने तक वे सावधान नहीं होते। विचार नहीं करते कि उन्हे क्या करना चाहिये और क्या नहीं।

इसलिए जो समझदार है उन्हें चाहिये कि विषयो के कारण प्राप्त होनेवाले बन्धन के स्वरूप को समझें। और विषय संग के कारण प्राप्त होनेवाले दुख-शोक की कल्पना करके संयमी बनें।

ज्ञानी कष्टमुक्त होते हैं

जन्म-मरण के दुख, शरीर प्राप्त होने पर पैदा होने वाली उसके प्रति आसक्ति और उसकी सुखप्राप्ति के लिये दूसरों को कष्ट पहुँचाने वाले कार्यों के परिणामों का विचारकर संयम का रास्ता पकड़ना चाहिये। हिंसा से दूसरे को कष्ट पहुँचाने का मार्ग छोड़ना चाहिये। तृष्णा से शान्त होकर, स्त्रियों में आसक्ति न रखकर, उच्च ध्येय को सामने रख कर बुरे कामों को छोड़ने वाले जो ज्ञानी हैं, जिनका रागद्वेष दूर हो गया है, उन पुरुषो को संसार मे कोई कष्ट नहीं दे सकता।

क्रोध, मान, माया और लोभ इन कषायों तथा विषयो की आसक्ति के कारण मनुष्य असावधान बनता है। इसलिये उसे जन्म-मरण के चक्कर काटने पड़ते हैं। लेकिन जो शब्द और रूप

मे तटस्थ रहते है, जो वृत्ति से सरल है, जो मृत्यु से डरते हैं यानी इस बात को ध्यान मे रखते हैं कि मृत्यु तो अनिवार्य है, उनसे कोई बुरा काम नहीं हो पाता और इसी कारण वे जन्म-मरण से मुक्त हो जाते हैं। ऐसे लोग कर्म से सावधान—अप्रमत्त रहते हैं। पाप-कार्यों से उपरत रहते हैं, सभी प्रकार के पाप-कर्मों से आत्मा की रक्षा करते है। वे कुशल, संसार को यमरूप समझने वाले तथा संयमी होते है।

दुखों की जड़ अज्ञान

अज्ञान ही अहित का कारण है। जो सब दुख दीखते हैं वे आरम्भ यानी सकाम प्रवृत्तियों अर्थात् कामना रखकर किये हुए कार्यों और इसके लिये दूसरों को कष्ट पहुंचाने से ही होते है इसलिये आरम्भ को अहितकर मानना चाहिये। आसक्ति पूर्वक किये हुए कर्म बन्धन के कारण होते है। इसलिये संयम को अपना कर राग-द्वेष रहित बनना चाहिये।

शुद्ध आचरण ही मुख्य

कई लोग पहले क्या हुआ और आगे क्या होगा इसका जरा भी विचार नहीं करते। कुछ लोग ऐसा भी कहते है कि जो कुछ हुआ या होने वाला है वह होकर ही रहेगा—उसे टाला नहीं जा सकता। लेकिन जो वास्तविकता को समझने वाले सत्यदर्शी होते हैं वे कर्मों की विचित्रता जानते हैं। इस कारण जैसा हुआ है वैसा ही आगे होगा ऐसा वे नहीं मानते। उनकी यह मान्यता होती है कि शुद्ध आचरण द्वारा कर्म का नाश करने पर कर्म की

गति में फर्क किया जा सकता है। दुख को सुख में बदला जा सकता है। इसलिये वे अपनी शुद्धि की ओर ध्यान देते हैं।

संसार के तथा सुख-दुख के स्वरूप को समझकर नैष्कर्म्यदर्शी यानी निष्कर्म-आत्मा को देखने वाला पुरुष परम तत्त्व को जानता है। उससे पाप नहीं होता, बुरे काम नहीं होते। पदार्थों के परिवर्तनशील स्वभाव को समझकर वह उपरत होता है। उसकी पदार्थों में आसक्ति नहीं होती।

समता में निर्भयता

संसार के सभी प्राणियों के प्रति समता की भावना रखकर तथा संसार के संबंधों को ठीक ठीक जानकर दूसरे प्राणियो को अपनी तरह समझ कर वैसा ही वर्ताव करना चाहिये। जो बात हमें ठीक नहीं लगती वह दूसरो को कैसे अच्छी लग सकती है। यह समझ कर हमें चाहियें कि दूसरे का जैसा हमारे साथ व्यवहार हो वैसा ही हम दूसरो के साथ करें। दूसरों को कष्ट देने या मारने से बैर बढ़ता है। लेकिन जब हम दूसरों को अपनी तरह मानते है तब निर्भय बनते है।

हिंसा मे मर्यादा हो सकती है लेकिन अहिंसा में नहीं, वह अमर्यादित है।

इन्द्रियासक्ति हिंसा है

शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्शादि इन्द्रियो की आसक्ति मे हिंसा है। जो इस हिंसा को जानने में कुशल हैं वे अहिंसा को समझने में कुशल है। जो अहिंसा को समझने मे कुशल हैं वे शब्द

रूपादि कामभोगों की आसक्ति में रही हुई हिंसा को समझने में कुशल हैं।

जिन्होंने शब्द-रूप-रस-गंध और स्पर्श के स्वरूप को ठीक ठीक जान लिया है वे ही आत्मवान, ज्ञानी, वेदविद, धर्मात्मा और ब्रह्म रूप हैं। वे इस लोक के स्वरूप को ठीक ठीक जानते हैं। वे संसार के चक्र और उसके कारण माया के संग को ठीक से पहचानते हैं।

संसार के किंकर्तव्यविमूढ़ और दुख में डूबे हुए लोगों को देखकर ज्ञानी शिक्षा लें और सावधान होकर संयम मार्ग को ग्रहण करें और उसके पालन में प्रयत्न-शील बनें। इसी तरह उनसे भी शिक्षा ले जिन्होंने सांसारिक सुखों की सभी सामग्रियों के रहते हुए भी संयम धर्म का अनुसरण किया है। क्योंकि संयम ही श्रेष्ठ है। उसके बिना सब निस्सार है।

आत्म-निग्रही बनो

तेरा मित्र तू ही है। बाहर मित्र या हितकारी की खोज व्यर्थ है। यदि तू अपने आपको निग्रह में रखता है—अपने द्वारा बुरे काम नहीं होने देता और अच्छे काम बन पड़ते हैं तो तुझसे ही तेरा हित होगा। सुखी बनेगा, दुख से मुक्त बनेगा, इसलिए आत्म-निग्रही बन।

श्रेय दूर है किन्तु सत्य की पहचान कर और उसकी साधना कर। प्रयत्नशील, आत्म-हित में तत्पर और धर्म में श्रद्धा रखनेवाला पुरुष ही नाश के मार्ग को पार कर सकता है। क्रोध, मान, माया और लोभ को छोड़नेवाला ही शुद्ध होता है।

असावधान और आलसी को ही सब प्रकार के भय होते हैं। सावधान और प्रयत्नशील भय रहित होता है। लोगों के दुखों को समझकर उन्हें भय रहित करने का मार्ग वीर पुरुष ही ग्रहण करते हैं। वे उत्तरोत्तर ऊंचे चढ़ते जाते हैं, असंयमी जीवन की इच्छा नहीं करते।

मुमुक्षु को सांसारिक भोग-विलास के सुख और उसकी प्राप्ति न होने पर होनेवाली बेचैनी (रति-अरति) दोनों को त्याग देना चाहिए। जो मन, वचन और तन से संयम में रहता है, वह हास और विषाद का त्याग करता है।

श्रेय की सिद्धि में प्रयत्नशील साधक दुखों से नहीं घबराता। वह यही विचार करता है कि संसार में संयमी पुरुष ही दुखों से मुक्ति पाते हैं। अपनी साधना पर उसकी श्रद्धा बढ़ती है। वह सत्य के प्रति दृढ़ होता है।

जल में कमल के समान

संसार में आसक्त लोग सदा सोए रहते हैं—असावधान रहते हैं और संयमी सदा जाग्रत रहते हैं। वे शीत-उष्ण या अनुकूल-प्रतिकूल के द्वंद्वों को त्याग देते हैं। दुखों को सहज भाव से सहन करते है—अपने ऊपर इनका परिणाम नहीं होने देते। आनेवाले दुखों को साधना में सहायक मानते हैं, सदा जाग्रत रहते हैं, वैर-वृत्ति से दूर रहते हैं। यही दुखों से मुक्त होने का मार्ग है।

संयम ही श्रेयस्कर

संयम को श्रेयस्कर समझ कर ज्ञानी को प्रमाद नहीं करना चाहिए। आत्म-कल्याण का इच्छुक व्यक्ति संयम का पालन करने के लिए, जीवन-यात्रा निबाहने के लिए मिताहार करता है। दूसरों में अपने को देखता है, एकान्त में रहता है, सबके प्रति समता की भावना रखता है तथा सहृदय, उपशांत और सावधान होकर जीवन व्यतीत करता है।

जो दूसरे की शरम या डर से पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं होता वह सच्चा साधक नहीं है। सच्चा साधक तो वही है जो सिद्धान्त को समझकर स्वेच्छा से संयम का पालन करता है और अपनी आत्मा को निर्मल बनाता है।

क्रोध, मान, माया और लोभ छोड़कर संयम का पालन करना चाहिये। कषाय और हिंसा का त्याग करके संसार से मुक्ति पानेवाले ही दृष्टा हैं। जो एक को जानता है वह सबको जानता है और जो सबको जानता है वह एक को जानता है यानी चारों कषायों में से एक को जीतने वाला सबको जीत लेता है।

यथार्थ धर्म-मार्ग

संसार मे सदा ही महान् पुरुष हुआ करते है। वे केवल अपना ही आत्मकल्याण नहीं करते, दूसरों को भी आत्मकल्याण का मार्ग बताते है। जो भूतकाल में होगए हैं, वर्तमान में हैं तथा भविष्य में होनेवाले हैं उन सभी महान् पुरुषों का एक ही मार्ग है और वह यह है कि 'दूसरों को कष्ट न पहुचाओ'। वह शुद्ध,

नित्य और शाश्वत है। मनुष्य का इतना ही कर लेना यानी किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देना, न मारना, अधीन नहीं बनाना, हुकूमत चलाकर किसी से उसकी इच्छा से विरुद्ध काम नहीं लेना और अपना जीवन निभाना, वस्तुतः धर्म-मार्ग है। इस मार्ग से जानेवाले में अहंकार नहीं होता। क्योंकि किसी का उपकार करने या दूसरो की भलाई करने में यदि यह अहंकार आ जाता है कि मैं उपकार या भलाई करता हूं तो वह साधक को नीचे गिरा देता है। इसलिए साधक अहिंसा के मार्ग को ग्रहण करे जिससे दूसरे का बुरा न हो और भलाई हो जाय तो उसमें अहंकार न करे।

इसी धर्म को देश, काल और परिस्थिति के अनुसार जीवन में उतारने का उपदेश महान् आत्माएँ देती रहती है। बाहर से भिन्नता दिखाई देने पर भी उनके उपदेश का मूल उद्देश्य यही होता है कि मनुष्य अपने लिए दूसरे को दुःख न दे। छोटे और बड़े को, धनी और निर्धन को, गृहस्थ और साधु को—सबको ज्ञानियों ने यही आदेश दिया है कि किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचाना चाहिए।

सुभावना पर गलत विचार

लेकिन संसार में कई ऐसे भी लोग है जो मानते है कि संसार हिंसा या शोषण पर ही चल रहा है। दूसरो को कष्ट पहुंचाए बिना, बिना शोषण के संसार के काम चल ही नहीं सकते। दूसरों से काम न करवाएँ, नौकर न रखे या दूसरों को गुलाम न बनाएँ तो हम सुखी कैसे हो सकते है? ज़िंदा रहने के लिए,

अपना जीवन सुख से बिताने के लिए दूसरों पर अत्याचार करने में दोष नहीं। इस विचार के लोग केवल इन विचारों के अनुसार अपना जीवन बिताकर ही चुप नहीं बैठते पर वे इन विचारों के आधार पर सुखी बनने का तत्त्वज्ञान खड़ा करते हैं। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' का तत्त्वज्ञान इन्हीं विचारो पर आधारित है। लोगोंको यह तत्त्वज्ञान आकर्षक भी लगता है। क्योंकि प्रकट में ऐसा ही दिखाई देता है कि इसी मार्ग से सुख की प्राप्ति जल्दी होती है। लेकिन इस तरह के विचारों के कारण ही, सुख के सब साधनों के रहते हुए भी, सारा संसार दुखी है, भयभीत है, त्रस्त है।

दुख कोई नहीं चाहता

अपने सुख के लिए दूसरों को दुःखी बनानेवालों से यदि पूछा जाय कि उन्हें सुख अच्छा लगता है या दुःख, तो वे यही कहेंगे कि सुख ही उन्हें प्रिय लगता है; क्योंकि सुख सुख ही है और दुःख दुःख ही। जब हमें दुःख अच्छा नहीं लगता तब दूसरो को वह कैसे अच्छा लगेगा? दुःख को कोई नहीं चाहता। जो दुःख हमारे लिए अरुचिकर तथा भय पैदा करनेवाला है, वह दूसरे के लिए भी वैसा ही होगा। यदि हर व्यक्ति अपने सुख के लिए दूसरे के दुःख को बढ़ाता ही जावे तो सारे संसार मे दुख ही दुख हो जावेगा। ऐसी दुख की सृष्टि निर्माण कर हम सुखी कैसे हो सकेंगे।

तो वे कहते हैं कि जो समर्थ है वह सुखी रहेगा और जो असमर्थ या दुर्वल हैं वे दुखी रहेंगे। संसार मे दुखी जीने योग्य नहीं हैं। इस तरह की प्रतिस्पर्धा में बहुत कम लोग सुख प्राप्ति में

सफल हो सकते हैं। ऐसे लोग सदा दूसरों से भयभीत रहते हैं। उन्हें शांति नहीं मिलती। इसलिए यदि सुख प्राप्त करना हो तो दूसरों को भी सुखी बनाना चाहिए।

अधार्मिक या अधर्म का उपदेश देनेवाले की समझदार उपेक्षा करते हैं। समझदार लोगों की धर्म-मार्ग पर श्रद्धा होती है तथा वृत्ति से वे सरल होते हैं। उन्हें शरीर तथा शारीरिक सुखों की पर्वाह नहीं होती। सुखों की पर्वाह किए बिना वे विचारपूर्वक हिंसा के कर्मों का त्याग करते हैं। उनके द्वारा दूसरों को कष्ट पहुँचने जैसा काम नहीं होता। वे दुःख का मूल आरंभ—सकाम प्रवृत्ति और उससे होनेवाली हिंसा को मानते हैं। दुःख के स्वरूप को समझने में कुशल पुरुष ही ठीक मार्गदर्शन कर सकते हैं।

संसार के कई लोगों को बुरे काम—पाप कर्म करने की आदत-सी होती है। ऐसे लोगों को अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। क्रूरता के कार्य करने वालों को अपने कामों के दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं। उन्हें वेदनाएँ भुगतनी पड़ती हैं। जो बुरे काम नहीं करते उन्हें दुःख नहीं होता, वे सुखी और प्रसन्न रहते है। ऐसा ज्ञानियों का कहना है।

कामना-मुक्त के लिए ही ज्ञान का उपयोग

जिनकी कामनाएँ नष्ट हो गई है, किसी प्रकार के भोग-विलास की इच्छा जिनमें नहीं है, जो शमयुक्त है, आत्मपरायण, प्रयत्नशील, विवेकी, पापकर्म से निवृत्त, तटस्थ और सत्यनिष्ठ हैं, ऐसे साधकों के लिए ही ज्ञान का उपयोग है।

ज्ञानी और विवेकी पुरुष आरंभ का त्याग कर प्राप्त सहज-कर्म को अनासक्त भाव से तथा सावधानी पूर्वक करनेवाले होते हैं। जो वध, बन्धन, परिताप और पर वस्तु को त्याग कर आत्मनिष्ठ बन गए है वे सच्चे ज्ञानी है और कर्म बन्धनो से परे है।

राग द्वेषादि विकारो से ही बन्ध होता है। जिनके राग द्वेषादि विकारो का शमन हो गया है वे निष्कर्म हैं। तथ्य को ग्रहण कर संयमी पुरुष को ज्ञानियों के बताए हुए मार्ग से जाना चाहिए। संसार के कड़ुए-मीठे अनुभवो से जागृत बने लोगों के लिए ज्ञानी यही मार्ग बताते हैं कि राग-द्वेष को त्यागना चाहिए।

धर्मज्ञ नहीं, धार्मिक बनो

भगवान महावीर कहते हैं कि ज्ञानियों से धर्म सुनकर उसे आचरण में लाना चाहिए। सुनकर केवल उसकी जानकारी से ही लाभ नहीं होता—धर्मज्ञ नहीं धार्मिक बनने की जरूरत है। मन को सुहानेवाले भोग्य पदार्थों की आसक्ति त्यागकर और लोक प्रवाह की रुचि को छोड़कर धर्म-मार्ग पर चलना चाहिए। संसार में आसक्त, विषयों में लीन तथा सुख प्राप्ति के साधन नष्ट हो जाने के डर से घबराए हुए लोग दुःखी होते है, उनकी वृत्ति चंचल होती है। ऐसे लोगों के जीवन से सबक लेकर सावधान, अप्रमत्त और प्रयत्नशील बनकर पुरुषार्थ करना चाहिए।

'जिन' कौन ?

जिन्होंने अपने आपको जीतकर विकास कर लिया है वे 'जिन' कहलाते है। ऐसे जिन भगवान की आज्ञा का अनुसरण

करनेवाले और निस्पृही बुद्धिमान पुरुष आत्मा के संबंध का ठीक विचार करके आत्मसिद्धि के लिए शरीर की ममता को त्याग देते हैं।

कषायों को नष्ट करना ही मुक्त होना है

जैसे जीर्ण और सूखी लकड़ी को आग शीघ्र जला देती है वैसे ही आत्मनिष्ट और स्थिर-बुद्धि लोग क्रोधादि कषायों को जला देते हैं। आयु नाशमान है और भविष्य मे दुष्कर्मो के परिणाम स्वरूप दुःख भोगना ही पड़ेगा। दुष्कर्म के परिणाम से दुःखितो के कडुए अनुभवों की ओर देखो और पूर्व संबंधों का त्यागकर, विषयासक्ति को दूर कर शरीर को ठीक ठीक कसो। फिर जन्म न लेनेवाले वीर पुरुषों का मार्ग कठिन है। स्थिर-बुद्धि पुरुष संयम मे सावधान रहता है। वह आत्महित मे तत्पर तथा सदा प्रयत्नशील होता है। ब्रह्मचर्य का पालन कर कर्म का नाश करने वाला संयमी वीर होता है।

इन्द्रियो को वश करने पर भी कई लोग सूक्ष्मविषयो के प्रवाह में बह जाते है। क्योकि जिनकी आसक्ति नष्ट नहीं हो गई है ऐसे लोगों के बन्धन नहीं कटते। विषय भोग के परिणाम स्वरूप दुःख से पीड़ित या अभी भी विषय भोग में प्रमत्त लोगो से भगवान कहते है कि, मृत्यु निश्चित है। इच्छाओं के गुलाम, असंयमी, परिग्रह में फंसे हुए तथा मृत्यु जिनके निकट खडी है ऐसे लोग बार बार जन्म-मरण के चक्कर में घूमते रहते हैं।

पाप कर्म से निवृत्त होनेवाले ही वास्तव में वासना मुक्त हैं। इसलिए कषायों का त्याग करना चाहिए। जिन में संसार के भोगों की इच्छा नहीं रही है, वे कोई भी पाप प्रवृत्ति नहीं करते। उनकी सारी उपाधियां नष्ट हो जाती हैं।

कामना भ्रमाती है

विषय भोगों में आसक्त कोई व्यक्ति अपने सुख भोगो के लिए हिंसा करता है तो कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो बिना प्रयोजन ही हिंसादि पाप-कर्म करते रहते हैं। उनकी यह आसक्ति ही उनको जन्म-मरण के फेरे में भ्रमाती रहती है और वे भिन्न-भिन्न योनियों में चक्कर मारते रहते है। जिनकी कामनाएँ असीम होती है वे मृत्यु को या नाश को प्राप्त होते है। कामनाओ के कारण वे सत्य से तथा सच्चे सुखों से दूर रहते हैं। ऐसे लोगो से न सुख भोगा जाता है और न वे त्याग ही कर सकते है।

इस तरह इन्द्रियों के अधीन बने हुए सुखासक्त लोगों के जीवन को देखो तो, कैसी उनकी दुर्गति होती है। उन्हें अपने वर्तमान जीवन में भी अपार सांसारिक दुःख उठाना पड़ता है। दुःखों को सहते हुए भी उनकी आंखें नहीं खुलतीं, सच्चे सुख का मार्ग नहीं पकड़ते। शरीर की आसक्ति के दुःख का कारण होने पर भी वे उस नाशमान शरीर को अविनाशी, अमर तथा आश्रय स्थान मानकर उसके लिए बुरे कर्म करते रहते हैं।

मोहासक्त की मूढ़ता

स्वयं को सुख प्राप्त हो इसलिए वे बुरे, दूसरे को कष्टप्रद और क्रूर कर्म करते हैं। परिणाम स्वरूप उन्हें सुख के बदले मे दुःख की प्राप्ति होती है। दुःख से मूढ़ बनकर वे सुख की आशा में लगे रहते है। उनकी बुद्धि पर पर्दा पड़ जाता है। उन्हें ठीक रास्ता नहीं सूझता, वे फिर फिर से गलत रास्ते को अपना कर यानी दूसरे को दुःख देकर स्वयं सुखी बनने का प्रयत्न करते हैं। इसी कारण उन्हें शांति, सुख या समाधान नहीं मिलता और मोह के कारण जन्म-मृत्यु के चक्कर करने पड़ते हैं। क्योंकि जिनका जीवन स्वच्छ और शुद्ध नहीं है, जो सब के प्रति आत्मभाव नहीं रखते, शरीर और शरीर के संबंधों में आसक्त रहते हैं, मृत्यु के समय उनके संस्कार शुद्ध नहीं रहते। मोह के कारण शारीरिक संबंधों में आसक्ति रखने के कारण वे अपने संस्कारों के अनुसार जन्म ग्रहण करते है। मोहासक्त स्थिति में मरनेवालों की गति भी वैसी ही होती है। नाशमान शरीर के प्रति जिनका मोह होता है वे उसके द्वारा अपना विकास न कर, शारीरिक वासनाएँ पूरी करने में लगते हैं। वे उलझ जाते है। उन्हें शरीर का मोह हो जाता है। उस शरीर संबंधी आसक्ति के कारण उनमें क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दुर्गुण बहुत अधिक बढ़ जाते है। उनमें अनेक तरह के संकल्प-विकल्प चलते रहते हैं और बुरे कामों में ही पूरी तरह मग्न हो जाते हैं। धीरे धीरे वे बुरे कार्यों को करने मे कुशल या पारंगत हो जाते है।

परिग्रह की ममता भय है

परिग्रह के प्रति रहनेवाली ममता ही भय है। इसी कारण मनुष्य संसार में निर्भय नहीं हो पाता। संग्रह करने के लिए अनेक कष्ट उठाता है। बड़ी ही कठिनाई से और दूसरो को कष्ट देकर वह अर्थ का संग्रह कर पाता है। संग्रह हो जाने पर वह संग्रह कम न हो जाय या कोई लूट न ले इसका उसे डर बना रहता है। लेकिन परिग्रह भय रूप तथा दुःख का कारण होने पर भी मनुष्य उसका संग्रह करने के लिए पाप कर्मों को करता है और दुःखी बनता है।

संयमी की जागरूकता

लेकिन संयमी पुरुष को जीवन की अस्थिरताका ज्ञान रहता है। वह जानता है कि मृत्यु कब आवेगी इसका पता नहीं; इसलिए अपने जीवन को विषय भोगों के सेवन में नहीं बिताता। विषय भोगो के स्वरूप को समझने का वह प्रयत्न करता है और बुरे कामों को त्याग कर सद्गुणों की वृद्धि के लिए संयम का मार्ग अपनाता है। अपने शरीर को संयम द्वारा कसकर समता धर्म को अपनाता है। ज्ञानी पुरुषों ने मानवता का विकास इसी में माना है कि छोटे बड़े के भेद को भूलकर समताको अपनावें। इसलिए ज्ञानियों के बताए हुए मार्ग को ग्रहण कर जीवन के हर क्षेत्र मे वह समता को बढ़ाता है। वह जानता है कि उसे जो मानवता के विकास के लिए मौका मिला है उसका पूरा पूरा उपयोग कर लेना चाहिए क्योंकि न मालूम कल क्या होने वाला है इसलिए वह एक क्षण भी प्रमाद नहीं करता—विलंब नहीं करता।

बुराइयों से छुटकारा पाना या बन्धनों से मुक्त होना अपने ही हाथ में है। ज्ञानियोंने यही कहा है और अनुभव भी यही बताता है कि अपना विकास स्वयं अपने द्वारा ही होता है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह अपने विकास के लिए पुरुषार्थ करे। उसी में तन्मय हो जाना या अपने आप मे मगन होना ही ब्रह्मचर्य है।

अनासक्ति का मार्ग

हर व्यक्ति को अपने भले या बुरे कर्मों के फल भुगतने पडते हैं। इसलिए दोनों तरह के फलो से बचने के लिए अनासक्ति का या संयम का रास्ता पकड़ना चाहिए। पुण्य कर्मो में या भले कामों मे आसक्ति हो जाती है तो वे भी बोझ रूप हो जाते हैं। गधे को जैसे मिट्टी की बोरी का भार होता है वैसे ही शक्कर की बोरी का भी। इसलिए दोनों का परिणाम न हो इसलिए संयम का रास्ता साधक को पकड़ना चाहिए। लोक-व्यवहार मे हर व्यक्ति स्वार्थ के लिए बुरे काम करता हुआ दिखाई देता है। इतना ही नहीं अपने शरीर पोषण के लिए पाप करने या बुराई करने का लोग समर्थन करते हैं। इस तरह के लोक-व्यवहार की अवहेलना कर विवेक पूर्वक सावधान होकर संयम का मार्ग ले—कल्याण के मार्ग को अपनावे।

ज्ञानियोंने यही मार्ग बताया है। इसी मार्ग का अनुकरण कर अनासक्त भाव से अच्छे कार्य करना चाहिए। इसी मे पुरुषार्थ करना चाहिए। शील यानी शुभ प्रवृत्तियों तथा संसार के स्वरूप को समझकर कामना रहित या निराकुल बनना चाहिए।

अपने दोष ही आदमी के शत्रु हैं

संसार के अधिकांश लोगों की यह मान्यता है कि उनका शत्रु दूसरा है, उनसे अलग है। लेकिन संतों का कहना है कि किसी का कोई शत्रु बाहर नहीं है। बुराइयां या दोष ही आदमी के शत्रु हैं। इसलिए बाहर दूसरों से उलझने में कोई सार नहीं। अपनी कमजोरियों को दूर करने या उनसे लडने योग्य कोई दूसरा अच्छा क्षेत्र नहीं। साधुता की जिसे आकांक्षा है वह प्राणी मात्र के सुख की सहज इच्छा को समझकर किसी को नहीं दुखाता—कष्ट नहीं देता। उसके हर कार्य में संयम, सावधानी और विवेक रहता है। उसके हाथ से कोई बुरा काम नहीं होता।

शरीर के स्वरूप के जानकार

शरीर को कसकर ऐसा बनाओ कि जो अवस्था प्राप्त हो जाय उसी में संतोष है। यही साधुता है। रूखा-सूखा जो भी मिल जाय उसपर संतोष पूर्वक जो निर्भर रहते हैं, जिनपर संकट या बीमारी आने पर भी विचलित नहीं होते, वे जानते है कि यह शरीर नाशवंत, अनित्य, अध्रुव, अशाश्वत, विकारी है। उसके इस स्वरूप का विचार कर साधक शरीर पर सुख दुखों का परिणाम नहीं होने देते। जो अप्रमत्त यानी सावधान रहकर अपनी जीवन चर्या करता है, वह मुक्त है, वह किसी प्रकार के बंधन में नहीं बंधता।

ज्ञानी की समदृष्टि

ज्ञानी पुरुष अपने सद्गुणो का पूरा विकास करके सद्गुण संपन्न बनता है। उसकी सब प्राणियों के प्रति सम भावना रहती

है। उसमें बुराई या दुर्गुण नहीं रहते वह संसार के समस्त प्राणियों की रक्षा में प्रयत्नशील और तत्पर रहता है। उसकी सभी इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होती हैं, उसे किसी प्रकार की कोई कामना नहीं रहती। वह मृत्यु तक शुभ प्रवृत्तियों में सहज भावसे विचरण किया करता है।

ऐसे ज्ञानियों के मार्ग-दर्शन में, उनकी बताई हुई निःसंगता से संयम पूर्वक रहना चाहिए। ऐसे महान् संतों के प्रति आदरभाव रखकर सत्संग करना चाहिए। ऐसे गुरुकी विनयपूर्वक सेवा करके उसकी आज्ञामें रहना चाहिए। ऐसा व्यक्ति इन्द्रियों को जीतकर सत्यका दर्शन कर सकता है।

संशयात्मा को समाधि का लाभ नहीं होता---उसका चित्त स्थिर नहीं होता। उसे किसी का आश्रय लेकर ही विकास करना पड़ता है। इसलिए साधक ऐसे ज्ञानियों का अनुसरण करते है, कुछ त्याग के मार्ग का अनुसरण करते हैं। जिनकी उम्र और अनुभव पक्व न हुए हों, ज्ञान परिपक्व न हुआ हो उन साधको को ज्ञानी और अनुभवियों का आश्रय लेना चाहिए–उनके मार्ग दर्शन में चलना चाहिए। ऐसे ज्ञानियों के मार्ग-दर्शन के विना पुरुषार्थ के व्यर्थ होने की संभावना रहती है।

क्रोधी और अहंकारी

कई वार ऐसा भी देखा जाता है कि लोगों को भली या शिक्षा की अच्छी वात कहने पर भी गुस्सा आता है। ऐसे घमंडी लोग अहंकारवश मोह में उलझे होते हैं। ऐसे लोगों पर संकट आते रहते हैं जिनको टालना असंभव-सा हो जाता है।

आयश्चित्त

गुरुके मार्ग दर्शन में सावधानीपूर्वक चलनेवाले सद्गुणी और संयमी पुरुषों से भी भूल से कोई बुराई या पाप हो जाय तो उसके बंध का नाश भी तुरंत हो जाता है यानी उसके परिणाम से वह छुटकारा पा जाता है। लेकिन कभी प्रमाद से, स्वभाव दोष या संस्कारों के कारण कोई भूल हो जाती है तो उस भूल को भूल समझकर विवेक से प्रायश्चित्त कर फिर से न करने का संकल्प करता है तो उसका वैसा करना साधक को ऊँचा उठाता है। इस तरह सावधानी पूर्वक किए गए प्रायश्चित्त को ज्ञानी अच्छा ही मानते है।

स्वहित में तत्पर, बहुदर्शी, ज्ञानी, उपशांत और शुभ प्रवृत्ति वाला और सदा प्रयत्नशील साधक स्त्रीके दर्शन से अपने चित्तको चंचल नहीं होने देता। वह जानता है कि इस तरह वासनाधीन होने से उसकी शक्ति का दुरुपयोग होता है, वह जो अपना विकास साधना चाहता है उसमें बाधा पड़ती है। फिर स्त्रियों के राग में फँसने या उन पर आसक्त हो जाने से उसका क्या हित सधेगा? भले ही क्षण भर सुख मालूम दे, तो भी उसका है, सच्चा श्रेय उसमें नहीं है।

वासनाओं का शमन

यदि संस्कारवश वासनाएँ साधक में उभड़ भी जायँ तो संयमी पुरुष सादा भोजन करे, रूखा-सूखा और कम खावे। ध्यान करे, पैदल घूमे और अपने मन को काबू मे रखे।

साधक को वासनाओं को उत्तेजित करनेवाली बातें नहीं करनी चाहिए और न सुननी चाहिए; स्त्रियों की ओर न देखना चाहिए। एकांत में स्त्रियों के साथ बैठना या रहना नहीं चाहिए; उनका ममत्व नहीं रखना चाहिए; उनको आकर्षित करने के लिए बनाव सिंगार भी नहीं करना चाहिए; वाणी का संयम रखना चाहिए; अपने आप पर काबू रखना चाहिए और बुरे कर्म या पाप का त्याग करना चाहिए।

अपने को असंयम की ओर न जाने देकर सद्गुणो के विकास में लगाना चाहिए। संयमी बनकर सद्गुणों के विकास में पुरुषार्थ करना चाहिए।

ज्ञानियों के उपदेश से, या दूसरों से जानकर अथवा सहज स्मृति से सत्य को पहचान कर उसका अनुसरण करना चाहिए।

जिसको तू मारना चाहता है वह तू ही है, जिसे तू अधीन करना चाहता है वह भी तू ही है, जिसे तू दबाना चाहता है वह भी तू ही है ऐसा जानकर सरल स्वभाववाला व्यक्ति न किसी को मारता है और न कष्ट देना चाहता है। क्योंकि प्राणी मात्र मे अपनी तरह जीव है और सब पर अपनी तरह ही सुख दुख के परिणाम होते है, इसलिए सब को वह अपनी तरह मानता है।

आत्म विकास

जिन्हें आत्म-विकास का मार्ग बतानेवाले महान् पुरुषो के प्रति निःशंक श्रद्धा होती है ऐसे मुमुक्षुओ में कुछ तो आत्म-विकास साध लेते है और कुछ श्रद्धा होने पर भी आत्म-विकास नहीं कर पाते

तो कई लोग जिन्होंने महान् पुरुषों के मार्ग पर विचार भी नहीं किया वे स्वयं अपने प्रयत्न से आत्म-विकास साध लेते हैं। इसलिए आत्म-विकास या आत्म-प्राप्ति किस व्यक्ति को किस रास्ते से होगी यह कहना कठिन है। आत्म विकास के लिए केवल श्रद्धा ही काफी नहीं होती, संयम, सावधानी, पुरुषार्थ और विवेक आदि कई गुणों की मदद आवश्यक है। आत्मा में अपने विकास के लिए आवश्यक ज्ञान भी रहता है। संतों के अनुभव से कई लोगों को विकास में सहायता भी होती है लेकिन कई बार अपना ज्ञान ही सत्यमार्ग बताने के लिए उपयोगी हो सकता है। इसलिए आत्मार्थी पुरुष अगर सत्य की खोज के लिए आवश्यक सद्गुणों का विकास करते हैं तो वे अवश्य विकास करते ही हैं, फिर मार्ग भले ही कोई हो। आत्मार्थी पुरुष मार्गों के झगड़े में नहीं उलझते।

इस तरह आत्म प्राप्ति के मार्ग की विभिन्नता समझकर ज्ञानी यही कहे कि 'भाई, तू अपनी आत्मा के स्वरूप का विचार कर। इसका गहराई से विचार करने पर तुझे भलाई का मार्ग सूझेगा और उस मार्ग पर चलने का पुरुषार्थ करने पर तेरा हित होगा। इसलिए इस पर विचार न कर कि क्या करना श्रेयस्कर होगा। आत्मा के बताए हुए मार्ग के अनुसार चलने में ही वस्तुतः श्रेय है।'

इन्द्रियासक्ति

विषयों की कामना—रूपादि इन्द्रियों की आसक्ति मनुष्य को जन्म मरण के फेरे में डालती है। जन्म पाकर शारीरिक दुःखों

को भुगतना पड़ता है। जिस शरीर को वह सुखी बनाना चाहता है, रोग रहित रखना चाहता है उसे रोग या जरा रहित रख नहीं सकता। अनेक व्याधियो और दुःखोंका अनुभव पाकर भी उसे शरीरका योग्य उपयोग कर लेनेकी बात नहीं सूझती।

जिस शरीर के प्रति वह आसक्त रहता है वह शरीर उसे छोड़ देगा। मृत्यु निश्चित आवेगी, टल नहीं सकती। फिर भी वह दूसरो को कष्ट देता है और अपने तथा दूसरे के जीवन को दुःखी बनाता है।

दुखों से मुक्ति

चारों ओर दुःख ही दुःख फैले हुए हैं। संसार के दुःखो की ओर नजर तो डालो—हर प्राणी अपने आपको दुःखी ही मानता है। लेकिन विचार करने पर मालूम होगा कि इन दुःखो में से कुछ तो उसने अपने आप निर्माण किये है और कुछ अपनी कमजोरी या दुर्बलता के कारण दूसरों से पाता है। लेकिन सब दुःखों को दूर करने की शक्ति मानव में है। जो अपनी आसक्ति को त्याग देता है, सभीको सुखी बनाने का प्रयत्न करता है, अन्याय के आगे सर नहीं झुकाता वह संसार के दुःखो से छुटकारा पा सकता है। सारे दुःखों का मूल है महा भय रूप विषयों की कामना, उसका त्याग कर, मानवता को बढ़ाकर, सद्गुणो की वृद्धि कर, दूसरों को कष्ट मत दो—हिंसा न करो।

व्यापक बनना चाहिए

यदि तुझे अपना विकास करना है—भलाई करनी है तो त्याग का मार्ग पकड़ना होगा। अपने कुटुंब के मोह को त्यागना होगा और सबका बनना होगा। तू जो अपने मे तथा अपने कुटुंब में

राग रखता था—आसक्ति रखता था, तेरा प्रेम उन तक ही सीमित था उसे प्राणीमात्र तक बढ़ाना होगा। तेरा प्रेम सब के प्रति बढ़ना तेरे कुटुंबी जनोंको रुचिकर नहीं लगेगा। वे तुझे अपने उच्च ध्येय से विचलित करेंगे और संकुचित क्षेत्र में आत्मीयता रखकर शारीरिक सुख भोगों की ही सलाह देंगे। लेकिन संकुचित मनोवृत्ति रखने से या कुटुंब में ही अपने आपको सीमित कर देने से तेरा विकास नहीं होगा और न तू दुःखों से ही छूट सकेगा। इसलिए सयय रहते चेत और ज्ञान की उपासना कर।

सच्चा सुख संयम में

फिर तेरे आश्रय में रहनेवाले—कुटुंबी जनोंका भी सच्चा हित किस बात में है? तुझपर अवलंबित रहने में या स्वावलंबी बनने में? काम भोगोंको भोगने में या संयम में? इसका विचार कर। संसार में सच्चा सुख संयम को अपनाने में है। इसलिए पूर्व संबंधों की आसक्ति का त्याग कर के, वासनाओं—बुराइयों का त्याग करना चाहिए। भलाइयों और सद्गुणों में स्थिर होकर ज्ञानियों से दुख मुक्ति का मार्ग जानकर—धर्म को ठीक से जानकर वैसा आचरण करना चाहिए। लोक स्वरूप को जाननेवाले, पुरुषार्थी, सब की भलाई करने वाले और समभाव वाले ज्ञानी पुरुष ही दुख मुक्ति का मार्ग बताते हैं। कुछ विवेकी उनकी आज्ञा का अनुसरण कर—पुरुषार्थ से श्रेय की प्राप्ति करते हैं।

पुरुषार्थ से ही विकास

धर्म का—कल्याण का मार्ग ग्रहण कर प्रारंभ से ही अप्रमत्त—सावधान रह। कहीं भी आसक्त न बन। घर-कुटुंबियों की आसक्ति से छुटकारा पाकर पक्ष, संप्रदाय या संघ में न उलझ जा। क्योंकि

दोष तो दोष ही है, फिर वह छोटा हो या बड़ा; वह तो विकास में बाधा ही पहुंचाता है। आसक्ति या मोह विकास में बाधक ही है। साधक को विकास की ओर ही ध्यान रखना चाहिए। सभी तरह की आसक्ति को पार करके अपने विकास के लिए प्रयत्नों पर अवलंबित रहना चाहिए। इस तरह जो व्यक्ति अपने विकास पथ को या धर्म मार्ग को ही श्रेष्ठ मानता है, दूसरी किसी चीज की आसक्ति नहीं रखता वही सदाचारी दुःखों से मुक्ति पा सकता है। ऐसा आचरण ही अनुकरणीय और आदरणीय है।

शुद्ध आचार और शुद्ध धर्म का पालन करनेवाला—बुराइयों का—कमजोरियों का नाश कर सकता है। संसार का प्रवाह ठीक इस से उल्टा बहता है। लोग यही मानते हैं कि शरीर और शरीर के संबंध ही सार रूप हैं और उसके सुख के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। जो शरीर और शरीर से संबंधित हैं वे अपने हैं और जो उनसे भिन्न हैं, वे पराए हैं। अपनों के लिए दूसरों को दुखी बनाने, कष्ट देने में कोई आपत्ति नहीं। शारीरिक सुख भोगना और उसमें आनंद लेना ही सार है। संयम में कष्ट है—दुःख है, सुख नहीं है। लेकिन जो संयमी है वे संयम के मार्ग को ही श्रेयस्कर समझते हैं, उसे ही ग्रहण करते हैं। संयम ही सुख का कारण है क्योंकि संतोष में ही सुख है, वह तृष्णा के पीछे लगने में नहीं है।

सद्‌गुणी निर्भय होता है

लेकिन वृत्तियां और संस्कार इस बात को तुरंत ग्रहण नहीं करते। भीतर ही भीतर भली और बुरी वृत्तियों का झगड़ा चलता रहता है। जो बुराइयों को जीतकर सद्‌गुणी बनते हैं वे ही सच्चे

वीर हैं। वे किसी भी प्रकार के कष्ट से नहीं डरते। और तो क्या पर मौत का भी उन्हें भय नहीं रहता। वे सदा अपने आपको ऐसी तैयारी में रखते हैं कि किसी भी समय मृत्यु आ जाय तो पछतावा न रहे। उनमें घबराहट नहीं रहती। जीवित रहते है तो इन्द्रिय निग्रही बन संयम से जीवन बिताते हैं और मृत्यु के समय किसी प्रकार के मोह मे न अटककर शांत चित्त से शरीर छोड़ देते हैं।

परीषहों पर विजय

साधक को साधना में अनुकूल और प्रतिकूल दोनो तरह की बाधाओं का--परीषहों का--सामना करना पड़ता है। लेकिन ऐसे मौकों पर सभी तरह की शंका-कुशंका---संकल्प-विकल्प का त्याग कर वह शांत रहता है। कोई बिना कारण ही कष्ट दे, गालियां दे, बुरा कहे, निंदा करे तो भी शांत चित्त से सहन करता है। प्रतिकूल बाधाएं या परीषह ज्यादा खतरनाक होती हैं। कोई स्तुति करे, प्रतिष्ठा दे, सन्मान करे तब अपने आप को भूलने की ज्यादा संभावना रहती है। इसलिए सभी तरह की बाधाओं से सावधान रहकर समभाव से बरतना चाहिए। जैसी अवस्था प्राप्त हो उसी में संतोप मानना चाहिए। जो कुछ मिल जाय उसे समाधान पूर्वक ग्रहण करे। जरूरत से अधिक न खाए। संयमी अपने शरीर को सदा कस कर रखते है। उसे लाड़ लड़ाकर बिगाड़ नहीं देते।

संयमी का सहज जीवन

संयमी अपने जीवन तथा आचरण का शोधन करता रहता है। क्रोधादि कषायों का नाश करता है। उन्हें अपने पास नहीं

आने देता। अपना जीवन शांति से—संतोषसे बिताता है। वह प्रयत्नशील, आत्मा में स्थिर, रागद्वेष रहित, निश्चल होता है। कोई स्थान या चीज उसे पकड़ कर रख नहीं सकती क्योंकि उसकी उनमें आसक्ति नहीं होती। उसका चित्त अपने वशमें होता है। वह किसे भी कष्ट नहीं पहुंचाता। उसे भोगकी आकांक्षा नहीं रहती। सबके प्रति दया और कारुण्य की भावना उसके हृदय में होती है। वह उत्तरोत्तर विशाल बनता जाता है और अपने विकास में प्रयत्नशील रहता है। ऐसा संयमी प्राणीमात्र के लिए आश्रय स्थान बनता है। लोगोंको उसके दर्शन तथा संपर्क से शांति मिलती है। संतोष होता है। उनका आचरण लोगोंके लिए सहज अनुकरणीय बन जाता है।

उसकी दृष्टिसे कारुण्य बरसता है। चेहरेपर भव्यता और तेजस्विता आती है। ऐसे संयमी संसार के स्वरूपको समझकर, लोगों पर दयाकर भलाईका मार्ग बताते है—धर्मका उपदेश देते है। सबको भलाईका मार्ग बताते है। भूतमात्रके कल्याण का विचार करते है। शांति, वैराग्य, उपशम, दुःख मुक्ति, शौच, ऋजुता, निरभिमानता का मार्ग बताते है। सबकी भलाई मे अपनी भलाई वाला अहिंसा का मार्ग सुझाते है। संग्रह के दोषको बताते है। उनका यह उपदेश सबका कल्याण करने वाला और भलाईका होता है। वे उस मार्ग पर स्वयं चलकर अनुभव प्राप्त करते हैं। इसलिए उनके उपदेश का दूसरोंपर प्रभाव पड़ता है।

इस तरह आचरण करने वाला और उपदेश देने वाला स्वयं सुखी बनता है, दूसरोंके सुखों की वृद्धि करता है। उससे किसीको कष्ट नहीं होता, तकलीफ नहीं होती। संसार में दुख-पीड़ितों के लिए शांति बरसाता है—ताप हरण करता है। वह प्रसन्न होता

है। उसके पास जानेवालों को भी आनंद या प्रसन्नताकी अनुभूति होती है। वह दुःखितों के लिए तारणहार बन जाता है।

समता ही धर्म

ज्ञानियों ने—संतोंने समता को धर्म बताया है। उसे सुन और समझकर जिन्हें उसपर श्रद्धा और विश्वास हो गया है वे उसे स्वीकार करते हैं। उन्हें किसी प्रकार की आकांक्षा या फलाशा नहीं होती, उनके द्वारा किसी को कष्ट नहीं होता—तकलीफ नहीं होती। वे संग्रह को पाप यानी बुराई का आधार मानते हैं, इसलिए वे परिग्रह से अलिप्त रहते हैं। वे किसी प्रकार की बुराई या पापकर्म नहीं करते।

ऐसे मुमुक्षु ज्ञानियों से जन्म-मरण के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करते है और संयम में तत्पर रहते हैं। लेकिन बुढ़ापा आने पर और इन्द्रियों के दुर्बल होने पर इच्छा रहते हुए भी आत्म-विकास की साधना कठिन हो जाती है इसलिए समय पर चेत जाना चाहिए और सतत प्रयत्नशील बनकर फलाशारहित संयम मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

तटस्थता

कई लोगो को सब के प्रति समभाव रखने का—मानवता का मार्ग सच्चे विकास का या श्रेयस्कर नहीं मालूम होता। उनकी मान्यता इस से विपरीत होती है। वे छोटे-बड़े के भेद बनाकर अपने से छोटो को कष्ट पहुंचाने मे कोई बुराई नहीं देखते। वे यदि अपने इस तत्त्वज्ञान को श्रेष्ठ बताने के लिए वादविवाद करे, दलीलें दे तो उन्हें यही कह देना चाहिए कि "ज्ञानियों ने—संतो ने जानकर या अनुभव से जो 'सब के सुख में अपना सुख है' यह

मार्ग बताया है वही योग्य है। शारीरिक सुख के लिए दूसरों को दुखी बनाकर भोग भोगने का जो मार्ग बताया जाता है वह ठीक नहीं मालूम देता क्योंकि हर धर्म में पाप—बुरे कामों को त्यागना ही धर्म बताया है, इसलिए मैं उस मार्ग से चलने का प्रयत्न करता हूं" इतना कहकर मौन रखना ही श्रेयस्कर है।

ज्ञानी के कहे हुए धर्म को समझने पर चाहे शहर में रहो या अरण्य में लेकिन महापुरुषों द्वारा बताए हुए अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह इन तीन यामो के स्वरूप को ठीक से समझकर उनके पालन में पुरुषार्थ करना चाहिए। सकाम प्रवृत्तियों से प्राणी-मात्र के दुःख बढ़ते हैं। इसलिए उनका त्याग करना चाहिए। सकाम प्रवृत्ति य आरंभ न बढ़ानेवाला पाप कर्मों से निवृत्त होता है। उसका जीवन कामनारहित बनकर सहज और स्वाभाविक होता है।

संलेखना या देह-त्याग

विकास के मार्ग पर चलते चलते कभी साधक का मन काम विकार से ग्रसित हो जाय या उस के पतन का प्रसंग आजाय तो इन्द्रियों का दमन करने का प्रयत्न करना चाहिए। लेकिन इन्द्रियां अत्यंत प्रबल हो जायं तब इन्द्रियों के अधीन हो कर कुकर्म करने से तो शरीर त्याग—देना ठीक है किंतु अपना आत्मपतन नहीं होने देना चाहिए। जबतक शरीर आत्मविकास में साधन रूप बनता है तबतक उसका वैसा उपयोग कर लेना चाहिए लेकिन जब वह आत्मविकास में बाधक बनता है और उसके सुधार के सारे प्रयत्न विफल हो जाते हैं तब उस विकास में बाधा डालने वाले शरीर का त्याग करना ही श्रेयस्कर हो जाता है। मरण के लिए उस

अवसर को योग्य मानना चाहिए। वही धर्माचार है। यही हितकर, सुखकर, उचित और करणीय है।

यद्यपि आत्महत्या या आत्मघात निंदनीय और अनुचित है तथापि जब शरीर दूसरों के लिए बोझरूप बन जाय, उसका कोई उपयोग न रह जाय या उस के द्वारा अनुचित कर्म होने की संभावना हो या आत्मा का अकल्याण होता हो---आत्मपतन होता हो तो शरीर त्याग भी कभी कभी आवश्यक हो जाता है। इसलिए संलेखना यानी अन्नजल का त्याग कर के भी शरीर त्यागा जा सकता है। वह हितकर और आत्मविकास में आवश्यक भी हो जाता है। साधक न मरण की कामना करे और न जीवित रहने की ही इच्छा रखे किंतु सहज भाव से विकास के लिए जो करणीय है वह करे। जो भी प्रसंग आजाय उस में मन की समता न ढलने दे और विवेक पूर्वक जो करणीय हो वही करे।

'स्व' पुरुषार्थ

अपने विकास के लिए अपने आपको प्रयत्नशील होना पड़ता है। अनेक सांसारिक संबंधो के रहने पर भी इस विषय में अपने आपको अकेला ही मानना चाहिए। जिस तरह अपना भोजन अपने को ही करना पड़ता है, दूसरे के खाने से काम नहीं चलता उसी तरह अपनी भलाई के काम भी अपने आपको करने पड़ते हैं। इसे ठीक तरह से समझना चाहिए।

आत्म-विकास का प्रयोग या अभ्यास

दुःख या बुराई से मुक्ति पाने के लिए शरीर मे रहते हुए भी उससे तटस्थ रहना चाहिए। समाधिपूर्वक जीवन बिताना चाहिए।

सुख दुःख से विचलित नहीं होना चाहिए—राग द्वेष का अपने पर परिणाम न होने देना चाहिए। सब प्रकार की ममता त्याग देना चाहिए। अपने विकास का कोई उपाय सूझ पड़े—जो बात हमारी समता को बढ़ाने में सहायक हो—उसकी आजमाइश करना चाहिए यानी प्रयोग करता रहे—इस तरह आत्मविकास के क्षेत्र में प्रयोग करता रहे—समता बढ़ाता रहे। जीवन को इतना सहज बना लेना चाहिए कि उस पर कर्तव्य करते समय अनुकूल या प्रतिकूल संकटों का जरा भी असर न होने पावे। मन की समता को न ढलने देना चाहिए। चाहे जैसे संकटों को शांत चित्त से सहन करना चाहिए। यही विकास की सीढ़ी है।

शारीरिक क्षीणताकी ओर

किंतु जब यह शरीर आत्म-विकास के लिए उपयोगी न रहे—साधक न बनकर बाधक बन जाय, इन्द्रिय भोगों की ओर प्रवृत्त होने की संभावना हो, उसके द्वारा दूसरों का कल्याण होना संभव न रहे, तो क्रम से उसको क्षीण करना चाहिए। क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायों को घटाकर, चित्त को शुद्ध और स्थिर बनाना चाहिए। क्षणभंगुर इन्द्रियों के भोगों की कामना न रखना चाहिए। इस तरह विकास के प्रयत्न में—पाप कर्म से मुक्ति पाने के कार्य में आनेवाले शारीरिक संकटों—कष्टों को शान्त चित्त से सहन करना चाहिए। शरीर के साथ कष्ट तो लगे ही हुए हैं। आपत्तियां और संकट शरीर के पीछे सहज और स्वाभाविक रूप से लगे हुए हैं। हमारे प्रयत्नों के बावजूद भी बीमारी, बुढ़ापा या मृत्यु टल नहीं सकती अतः हम आपत्तियों और संकटों से युक्त शरीर के क्षणिक सुखों के पीछे लगकर विकास के मार्ग का त्याग न करें। कई लोग

कीर्ति या प्रतिष्ठा को अचल समझ उसके पीछे लगकर अपने ध्येय को भूल जाते हैं। लेकिन प्रतिष्ठा या कीर्ति ऐसा भुलावा है, जिसके पीछे लगकर मनुष्य शांति खोता है, दुःखों को बुलाता है और गलत रास्ते जाकर अपना पतन कर लेता है। इसलिए साधक भोग, कीर्ति या किसी प्रकार के मोह में न पड़कर विकास की ओर बढ़ता रहे।

कृतकृत्य

जबतक यह शरीर विकास में सहायक होता है तबतक साधक उसका उपयोग कर लेते हैं, उनका जीवन निजी विकास के लिए होता है। और जब जीवित रहना साधना में बाधक होता है तब उसे सहज भाव से और शांत चित्त से त्याग देते हैं। उनका जीवन और मरण दोनों भी विकास के लिए—दुःख और बुराई से मुक्ति पाने के लिए होता है। वह स्व के दायरे को त्याग कर आत्मा से परमात्मा बनता है। सब में व्याप्त होता है। केवल अपनी भलाई के लिए नहीं, सब की भलाई के लिए जीता है और मरना आवश्यक हो जाय तो सहज में जैसे सांप केंचुली को त्याग देता है उसी तरह शरीर को त्याग देता है। किसी प्रकार का मोह उस के विकास में बाधक नहीं होता। ऐसा ही पुरुष ज्ञानियों के बताए हुए मार्ग पर चलना है और कृतकृत्य होता है।